

Chapter उत्रीस

असुर हिरण्याक्ष का वध

मैत्रेय उवाच

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्वलीकामृतं वचः ।

प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अवधार्य—सुनकर; विरिञ्चस्य—ब्रह्माजी का; निर्व्वलीक—समस्त पापों से मुक्त; अमृतम्—अमृतमय; वचः—शब्द; प्रहस्य—खूब हँसकर; प्रेम-गर्भेण—प्रेम से पूरित; तत्—वे शब्द; अपाङ्गेन—चितवन से; सः—श्रीभगवान् ने; अग्रहीत्—स्वीकार किया।

श्री मैत्रेय ने कहा—स्रष्टा ब्रह्मा के निष्पाप, निष्कपट तथा अमृत के समान मधुर वचनों को सुनकर भगवान् जीभरकर हँसे और उन्होंने प्रेमपूर्ण चितवन के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

तात्पर्य : निर्व्वलीक शब्द अत्यन्त सार्थक है। देवताओं अथवा भक्तों की प्रार्थनाएँ निष्कपट होती हैं, किन्तु असुरों की प्रार्थनाएँ सदा कपटपूर्ण होती हैं। ब्रह्मा से वर प्राप्त करके हिरण्याक्ष अत्यन्त शक्तिशाली बना, किन्तु वर प्राप्त करने के बाद अपने पापपूर्ण मनोभावों के कारण उसने उत्पात प्रारम्भ कर दिया। ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं द्वारा की गई प्रार्थनाओं की तुलना असुरों की प्रार्थनाओं से नहीं करनी चाहिए। देवों का अभिप्राय भगवान् को प्रसन्न करना था, अतः भगवान् हँस पड़े और असुर को मारने की उनकी प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली। असुर कभी भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रशंसा नहीं करना चाहते, क्योंकि उनको इनका पता भी नहीं है, अतः वे देवताओं के पास ही जाते हैं। *भगवद्गीता* में इस कृत्य की निन्दा की गई है। जो लोग देवताओं के पास जाकर पापपूर्ण कृत्यों में उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे बुद्धि से विहीन माने गये हैं। असुरों की बुद्धि इसीलिए मारी जाती है, क्योंकि उन्हें इसका पता नहीं रहता कि उनका हित वास्तव में किसमें है। यदि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की जानकारी होती भी है, तो वे उनके पास नहीं जाते, वे श्रीभगवान् से मनोवांछित वर प्राप्त भी नहीं कर सकते, क्योंकि उनके उद्देश्य सदा पापपूर्ण रहते हैं। कहा जाता है कि बंगाल में डाकू अन्धों की सम्पत्ति लूटने की अपनी पापपूर्ण कामनाओं की पूर्ति के लिए देवी काली की पूजा करते थे,

किन्तु वे विष्णु मन्दिर में कभी नहीं जाते थे, क्योंकि विष्णु की प्रार्थना करने से उनके मनोरथ पूरे न हो पाते। अतः श्रीभगवान् के भक्तों या देवताओं की प्रार्थनाएँ सदैव निष्कपट होती हैं।

ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम् ।

जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; सपत्नम्—शत्रु; मुखतः—समक्ष; चरन्तम्—विचरण करते हुए; अकुतः—भयम्—निर्भीक; जघान—प्रहार किया; उत्पत्य—उछल कर; गदया—अपनी गदा से; हनौ—ठोड़ी पर; असुरम्—असुर; अक्ष-जः—ब्रह्मा के नथुने से उत्पन्न भगवान् ने।

ब्रह्मा के नथुने से प्रकट भगवान् उछल पड़े और अपने सामने निर्भय होकर विचरण करने वाले अपने असुर शत्रु हिरण्याक्ष की ठोड़ी पर उन्होंने अपनी गदा से प्रहार किया।

सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात् ।

विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह गदा; हता—प्रहार की गई; तेन—हिरण्याक्ष द्वारा; गदया—उसकी गदा से; विहता—छुट गयी; भगवत्—श्रीभगवान् के; करात्—हाथ से; विघूर्णिता—घूमती हुई; अपतत्—गिर पड़ी; रेजे—चमक रही थी; तत्—वह; अद्भुतम्—विचित्र; इव—निस्सन्देह; अभवत्—था।

किन्तु असुर की गदा से टकराकर भगवान् की गदा उनके हाथ से छिटक गई और घूमती हुई जब वह नीचे गिरी तो अत्यन्त मनोरम लग रही थी। यह अद्भुत दृश्य था, क्योंकि गदा विचित्र ढंग से प्रकाशमान थी।

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।

मानयन्स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—उस हिरण्याक्ष ने; तदा—तब; लब्ध-तीर्थः—सुअवसर पाकर; अपि—यद्यपि; न—नहीं; बबाधे—आक्रमण किया; निरायुधम्—अस्त्र-शस्त्र विहीन; मानयन्—आदर करते हुए; सः—हिरण्याक्ष; मृधे—युद्ध में; धर्मम्—युद्ध की आचार संहिता; विष्वक्सेनम्—श्रीभगवान् ने; प्रकोपयन्—कुपित हो करके।

यद्यपि हिरण्याक्ष को अपने निरस्त्र शत्रु पर बिना किसी रुकावट के वार करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था, किन्तु उसने युद्ध-धर्म का आदर किया जिससे कि श्रीभगवान् का रोष बढ़ जाए।

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते ।

मानयामास तद्धर्म सुनाभं चास्मरद्विभुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गदायाम्—ज्योंही उनकी गदा; अपविद्धायाम्—गिरी; हाहा-कारे—हाहाकार, कुहराम; विनिर्गते—मच गया; मानयाम् आस—स्वीकार किया; तत्—हिरण्याक्ष की; धर्मम्—सत्यता; सुनाभम्—सुदर्शन चक्र; च—तथा; अस्मरत्—स्मरण किया; विभुः—श्रीभगवान् ने।

ज्योंही भगवान् की गदा भूमि पर गिर गई और देखने वाले देवताओं तथा ऋषियों के समूह में हाहाकार मच गया, त्योंही श्रीभगवान् ने असुर की धर्मप्रियता की प्रशंसा की और फिर अपने सुदर्शन चक्र का आवाहन किया।

तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन

स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।

चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां

तत्र स्मासन्स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—श्रीभगवान् को; व्यग्र—घूमते हुए; चक्रम्—जिसका चक्र; दिति-पुत्र—दिति का पुत्र; अधमेन—नीच; स्व-पार्षद—अपने सहयोगियों का; मुख्येन—प्रमुख सहित; विषज्जमानम्—खेलते हुए; चित्राः—विविध; वाचः—अभिव्यक्तियाँ; अ-तत्-विदाम्—न जानने वालों का; खे-चराणाम्—आकाश में उड़ते हुए; तत्र—वहाँ; स्म आसन्—घटित हुआ; स्वस्ति—कल्याण; ते—आपका; अमुम्—उसको; जहि—मार डालें; इति—इस प्रकार।

जब चक्र भगवान् के हाथों में घूमने लगा और वे अपने वैकुण्ठवासी पार्षदों के मुखिया से, जो दिति के नीच पुत्र हिरण्याक्ष के रूप में प्रकट हुआ था, खेलने लगे तो अपने-अपने विमानों से देखने वाले देवता इत्यादि प्रत्येक दिशा से विचित्र-विचित्र शब्द निकालने लगे। उन्हें भगवान् की वास्तविकता ज्ञात न थी, अतः वे उद्घोष करने लगे “आपकी जय हो, कृपा करके उसे मार डालें, अब उसके साथ अधिक खिलवाड़ न करें।”

स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो

व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।

विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो

रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—उस असुर ने; तम्—श्रीभगवान् को; निशाम्य—देखकर; आत्त-स्थाङ्गम्—सुदर्शन चक्र धारण किए हुए; अग्रतः—समक्ष; व्यवस्थितम्—खड़े हुए; पद्म—कमल-पुष्प; पलाश—पंखड़ियाँ; लोचनम्—नेत्र; विलोक्य—देखकर; च—यथा; अमर्ष—क्रोध से; परिप्लुत—तिलमिलाई हुई; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ; रुषा—अत्यन्त रोष से; स्व-दन्त-छदम्—अपने ही होंठ; आदशत्—काट लिया; श्रसन्—फुफकारता।

जब असुर ने कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र वाले श्रीभगवान् को सुदर्शन चक्र से युक्त अपने समक्ष खड़ा देखा तो क्रोध के मारे उसके अंग तिलमिला उठे। वह साँप की तरह फुफकारने लगा और अत्यन्त क्रोध में अपने ही होठ चबाने लगा।

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव ।

अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कराल—भयावने; दंष्ट्रः—दाढ़ों वाले; चक्षुर्भ्याम्—दोनों आँखों से; सञ्चक्षाणः—घूरते हुए; दहन्—जलता हुआ; इव—मानो; अभिप्लुत्य—आक्रमण करके; स्व-गदया—अपनी गदा से; हतः—बधे हुए; असि—तुम हो; इति—इस प्रकार; आहनत्—प्रहार किया; हरिम्—हरि पर।

भयावनी दाढ़ों वाला वह असुर श्रीभगवान् को इस प्रकार घूर रहा था मानो वह उन्हें भस्म कर देगा। उसने हवा में उछलकर भगवान् पर अपनी गदा तानी और तभी जोर से चीखा, “तुम मारे जा चुके।”

पदा सव्येन तां साधो भगवान्यज्ञसूकरः ।

लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पदा—अपने पाँव से; सव्येन—बायें; ताम्—उस गदा को; साधो—हे विदुर; भगवान्—श्रीभगवान्; यज्ञ-सूकरः—समस्त यज्ञों के भोक्ता, अपने शूकर रूप में; लीलया—खिलवाड़ में; मिषतः—देखते हुए; शत्रोः—अपने शत्रु (हिराण्याक्ष) का; प्राहरत्—गिरा दिया; वात-रंहसम्—तूफान के वेग से।

हे साधु विदुर, समस्त यज्ञों की बलि के भोक्ता श्रीभगवान् ने अपने सूकर रूप में अपने शत्रु के देखते-देखते खेल-खेल में उसकी उस गदा को अपने बाँए पाँव से नीचे गिरा दिया यद्यपि वह तूफान के वेग से उनकी ओर आ रही थी।

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।

इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन्व्यनदद्भृशम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आह—उसने कहा; च—तथा; आयुधम्—हथियार; आधत्स्व—ग्रहण करो; घटस्व—प्रयत्न करो; त्वम्—तुम; जिगीषसि—जीतने के लिए इच्छुक हो; इति—इस प्रकार; उक्तः—ललकारते हुए; सः—हिरण्याक्ष ने; तदा—उस समय; भूयः—पुनः; ताडयन्—प्रहार करते हुए; व्यनदत्—गर्जना की; भृशम्—जोर से।

तब भगवान् ने कहा, “तुम अपना शस्त्र उठा लो और मुझे जीतने के इच्छुक हो तो पुनः प्रयत्न करो।” इन शब्दों से ललकारे जाने पर असुर ने अपनी गदा भगवान् पर तानी और पुनः जोर से गरजा।

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान्समवस्थितः ।

जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस गदा को; सः—वह; आपततीम्—अपनी ओर आते हुए; वीक्ष्य—देखकर; भगवान्—श्रीभगवान्; समवस्थितः—दृढ़तापूर्वक खड़े; जग्राह—पकड़ लिया; लीलया—सरलतापूर्वक; प्राप्ताम्—वहीं से; गरुत्मान्—गरुड़; इव—सदृश; पन्नगीम्—सर्पिणी को।

जब भगवान् ने गदा को अपनी ओर आते देखा तो वे वहीं पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहे और उसे अनायास उसी प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार पक्षिराज गरुड़ किसी सर्प को पकड़ ले।

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।

नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्व-पौरुषे—अपना पौरुष या उद्यम; प्रतिहते—व्यर्थ हुआ; हत—विनष्ट किया; मानः—गर्व; महा-असुरः—महान् असुर ने; न ऐच्छत्—(लेने की) इच्छा न की; गदाम्—गदा; दीयमानाम्—देने पर; हरिणा—हरि के द्वारा; विगत-प्रभः—तेज घटने से।

इस प्रकार अपने पुरुषार्थ को व्यर्थ हुआ देखकर, वह महान् असुर अत्यन्त लज्जित हुआ और उसका तेज जाता रहा। अब वह श्रीभगवान् द्वारा लौटा दी जाने वाली गदा को ग्रहण करने में संकोच कर रहा था।

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्वलनलोलुपम् ।

यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन्वथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जग्राह—उठाया; त्रि-शिखम्—तीन नोकों वाला; शूलम्—त्रिशूल; ज्वलत्—जलती हुई; ज्वलन—अग्नि;
लोलुपम्—लपलपाता; यज्ञाय—समस्त यज्ञों के भोक्ता; धृत-रूपाय—वराह रूप में; विप्राय—ब्राह्मण को;
अभिचरन्—दुष्टतावश प्रयोग करके; यथा—जिस प्रकार।

अब उसने प्रज्वलित अग्नि के समान लपलपाता त्रिशूल निकाला और समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् पर फेंका, जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी पवित्र ब्राह्मण पर दुर्भावनावश अपनी तपस्या का प्रयोग करे।

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं

चकासदन्तःख उदीर्णदीधिति ।

चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना

हरिर्यथा ताक्षर्यपतत्रमुञ्जितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह त्रिशूल; ओजसा—अपनी सारी शक्ति से; दैत्य—असुरों में से; महा-भट—परम योद्धा के द्वारा; अर्पितम्—फेंका हुआ; चकासत्—चमकता हुआ; अन्तः-खे—आकाश के बीच में; उदीर्ण—बढ़ा हुआ; दीधिति—प्रकाश;
चक्रेण—सुदर्शनचक्र से; चिच्छेद—खण्ड खण्ड कर दिये; निशात—तीखी; नेमिना—धार (परिधि); हरिः—इन्द्र;
यथा—जिस तरह; ताक्षर्य—गरुड़ का; पतत्रम्—पंख; उञ्जितम्—त्याग दिया।

उस परम योद्धा असुर के द्वारा पूरे बल फेंका गया वह त्रिशूल आकाश में तेजी से चमक रहा था। किन्तु श्रीभगवान् ने अपने तेज धार वाले सुदर्शन चक्र से उसके खण्ड-खण्ड कर दिये मानो इन्द्र ने गरुड़ का पंख काट दिया हो।

तात्पर्य : यहाँ पर आये हुए गरुड़ और इन्द्र का प्रसंग इस प्रकार है। एक बार गरुड़ ने अपनी माँ विनता को सर्पों की माता और अपनी सौतेली माँ कद्रू के चंगुल से छुड़ाने के लिए स्वर्ग में देवताओं से अमृत का पात्र छीन लिया। जब इसका पता चला तो स्वर्ग के राजा इन्द्र ने गरुड़ पर अपना वज्र चलाया। यद्यपि गरुड़ अजेय था, किन्तु इन्द्र के अचूक आयुध का सम्मान करने के लिए तथा स्वयं भगवान् का वाहन होने के कारण उसने अपना वह एक पंख गिरा दिया जो वज्र से चूर-चूर हो गया था। उच्चलोको के निवासी इतने संवेदनशील होते हैं कि लड़ाई में भी वे भद्रता के नियमों का अनुसरण करते हैं। गरुड़ इन्द्र के प्रति सम्मान व्यक्त करना चाह रहा था और उसे पता था कि इन्द्र के वज्र से कुछ न कुछ नष्ट होना है, अतः उसने अपना एक पंख दे दिया।

वृक्णो स्वशूले बहुधारिणा हरेः
 प्रत्येत्य विस्तीर्णामुरो विभूतिमत् ।
 प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
 नदन्प्रहत्यान्तरधीयतासुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वृक्णो—कटने पर; स्व-शूले—अपना त्रिशूल; बहुधा—अनेक खण्डों में; अरिणा—सुदर्शन चक्र द्वारा; हरेः—श्रीभगवान् की; प्रत्येत्य—ओर बढ़कर; विस्तीर्णम्—चौड़ा; उरः—वक्षस्थल; विभूति-मत्—धन की देवी का आवास; प्रवृद्ध—बढ़ा हुआ; रोषः—क्रोध; सः—हिरण्याक्ष; कठोर—कठोर; मुष्टिना—अपनी मुट्टी से; नदन्—गर्जना करते; प्रहृत्य—प्रहार करके; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गया; असुरः—असुर।

जब श्रीभगवान् के चक्र से उसका त्रिशूल खण्ड खण्ड हो गया तो असुर अत्यन्त क्रोधित हुआ। अतः वह भगवान् की ओर लपका और तेज गर्जना करते हुए उनके चौड़े वक्षस्थल पर, जिस पर श्रीवत्स का चिह्न था, अपनी कठोर मुष्टिका से प्रहार किया। फिर वह अदृश्य हो गया।

तात्पर्य : श्रीवत्स श्वेत बालों की भौरी है, जो भगवान् के वक्षस्थल पर है और उनके श्रीभगवान् होने का विशिष्ट चिह्न है। वैकुण्ठ लोक अथवा गोलोक वृन्दावन के सभी निवासी श्रीभगवान् की ही समरूप होते हैं अतः इसी श्रीवत्स चिह्न के द्वारा भगवान् को अन्यों के बीच पहचाना जाता है।

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
 नाकम्पत मनाक्क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तेन—हिरण्याक्ष द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; आहतः—प्रहार किया गया; क्षत्तः—हे विदुर; भगवान्—श्रीभगवान्; आदि-सूकरः—प्रथम सूकर; न अकम्पत—हिला-डुला नहीं; मनाक्—तनिक भी; क्व अपि—कहीं भी; स्रजा—पुष्प की माला से; हतः—मारा गया; इव—सदृश; द्विपः—हाथी।

हे विदुर, असुर द्वारा इस प्रकार प्रहार किये जाने पर आदि वराह रूप भगवान् के शरीर का कोई अंग तनिक भी हिला-डुला नहीं मानो किसी हाथी पर फूलों की माला से प्रहार किया गया हो।

तात्पर्य : जैसाकि बताया जा चुका है यह असुर पहले वैकुण्ठलोक में भगवान् का पार्षद था, किन्तु किसी कारणवश वह असुर बन गया। वह अपनी मुक्ति के लिए भगवान् से युद्ध कर रहा था। भगवान् को अपने दिव्य शरीर में उसके द्वारा किया गया प्रहार वैसा ही आनन्द दे रहा

था जिस प्रकार प्रौढ़ पिता से छोटा शिशु लड़े। कभी-कभी बाप और बेटे में बनावटी युद्ध होता है, तो बाप को आनन्द मिलता है। उसी प्रकार भगवान् को हिरण्याक्ष द्वारा किया गया प्रहार पूजा में चढ़ाये गये फूलों के समान प्रतीत हुआ। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भगवान् अपना दिव्य आनन्द लेने के लिए लड़ना चाहते थे इसीलिए उन्हें इस आक्रमण से सुख मिल रहा था।

अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।

यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उरुधा—अनेक प्रकार से; असृजत्—चलाई; मायाम्—कपटपूर्ण चालें; योग-माया-ईश्वरे—योगमाया के ईश्वर; हरौ—हरि पर; याम्—जिसको; विलोक्य—देखकर; प्रजाः—लोग; त्रस्ताः—भयभीत; मेनिरे—सोचा; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; उपसंयमम्—संहार, प्रलय।

किन्तु असुर ने योगेश्वर श्रीभगवान् पर अनेक कपटपूर्ण चालों का प्रयोग किया। यह देखकर सभी लोग भयभीत हो उठे और सोचने लगे कि ब्रह्माण्ड का संहार निकट है।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके भक्त का, जो असुर रूप में परिणत हो गया था, यह युद्ध इतना भीषण प्रतीत होने लगा मानो ब्रह्माण्ड में प्रलय होने वाली है। यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की महानता है। उनकी एक उँगली का उठना ही ब्रह्माण्ड के वासियों की दृष्टि में अत्यन्त अनिष्टकारी माना जाता है।

प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।

दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

प्रववुः—बह रही थी; वायवः—हवाएँ; चण्डाः—भयानक; तमः—अन्धकार; पांसवम्—धूल से उत्पन्न; ऐरयन्—फैल रहे थे; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; निपेतुः—गिरे; ग्रावाणः—पत्थर; क्षेपणैः—मशीनगनों से; प्रहिताः—फेंके गये; इव—मानो।

सभी दिशाओं से प्रचण्ड वायु बहने लगी और धूल तथा उपलवृष्टि से अन्धकार फैल गया, प्रत्येक दिशा से पत्थर गिरने लगे मानो वे मशीनगनों द्वारा फेंके जा रहे हों।

द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युस्तनयित्नुभिः ।

वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

द्यौः—आकाश; नष्ट—विलुप्त; भ-गण—नक्षत्र गण; अभ्र—बादलों के; ओघैः—समूहों से; स—सहित; विद्युत्—बिजली; स्तनयित्नुभिः—तथा कड़क (गर्जना) से; वर्षद्भिः—बरसने से; पूय—पीब; केश—बाल; असृक्—रक्त; विट्—विष्टा; मूत्र—मूत्र; अस्थीनि—हड्डियाँ; च—यथा; असकृत्—पुनःपुनः ।

बिजली तथा गर्जना से युक्त आकाश में बादलों के समूह घिर आने से नक्षत्रगण विलुप्त हो गए। आकाश से पीब, बाल, रक्त, मल, मूत्र तथा हड्डियों की वर्षा होने लगी।

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।

दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गिरयः—पर्वत; प्रत्यदृश्यन्त—दिखने लगे; नाना—अनेक प्रकार के; आयुध—अस्त्र-शस्त्र; मुचः—छोड़ते हुए; अनघ—हे पापमुक्त विदुर; दिक्-वाससः—नंगी; यातुधान्यः—राक्षसिनियाँ; शूलिन्यः—त्रिशूलों से सज्जित; मुक्त—लटकते; मूर्धजाः—बाल ।

हे अनघ विदुर, पर्वतों से नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र निकलने लगे और त्रिशूल धारण किये हुए नग्न राक्षसिनियाँ अपने खुले केश लटकाते हुए प्रकट हो गईं।

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ।

आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्त्रा वाचोऽतिवैशसाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बहुभिः—अनेक; यक्ष-रक्षोभिः—यक्षों तथा राक्षसों के द्वारा; पत्ति—पैदल; अश्व—घुड़सवार; रथ—रथ पर चढ़े हुए; कुञ्जरैः—अथवा हाथियों से; आततायिभिः—आततायियों द्वारा; उत्सृष्टाः—उच्चारित; हिंस्त्राः—क्रूर; वाचः—शब्द; अति-वैशसाः—हिंसक ।

यक्षों तथा राक्षस आततायियों के समूह के समूह अत्यन्त क्रूर एवं अशिष्ट नारे लगा रहे थे, जिनमें से अनेक या तो पैदल जा रहे थे, या घोड़े, हाथियों अथवा रथों पर सवार थे।

प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत् ।

सुदर्शनास्त्रं भगवान्प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रादुष्कृतानाम्—प्रदर्शित; मायानाम्—जादुई शक्तियाँ, इन्द्रजाल; आसुरीणाम्—असुर द्वारा प्रदर्शित; विनाशयत्—विनाश करने का इच्छुक; सुदर्शन-अस्त्रम्—सुदर्शन चक्र; भगवान्—श्रीभगवान् ने; प्रायुङ्क्त—फेंका; दयितम्—प्रिय; त्रि-पात्—समस्त यज्ञों के भोक्ता।

तब समस्त यज्ञों के भोक्ता श्रीभगवान् ने अपना प्रिय सुदर्शन चक्र छोड़ा जो असुर द्वारा प्रदर्शित समस्त इन्द्रजाल की शक्तियों (माया जाल) को तहस-नहस करने में समर्थ था।

तात्पर्य : प्रख्यात योगी तथा असुर कभी-कभी अपनी योगशक्ति से अत्यन्त जादुई करामातें दिखलाते हैं, किन्तु जब भगवान् अपने सुदर्शन चक्र को छोड़ देते हैं, तो ये सारे इन्द्रजाल विलुप्त हो जाता है। इस प्रसंग में दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष के बीच युद्ध का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। दुर्वासा मुनि अनेक आश्चर्यजनक योग-युक्तियाँ दिखाना चाह रहे थे, किन्तु जब सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ तो वे स्वयं डर गये और अपनी रक्षा के लिए विभिन्न लोकों में दौड़ते फिरे। भगवान् को यहाँ पर *त्रिपात्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे तीन प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि की है कि वे समस्त यज्ञों, तपों तथा तपस्याओं के भोक्ता हैं। भगवान् तीन प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं। *भगवद्गीता* में आगे यह भी वर्णन आया है कि द्रव्य, ध्यान तथा चिन्तन के भी यज्ञ होते हैं। जो ज्ञान, योग तथा कर्म मार्गों पर चलने वाले हैं उन सबको अन्ततः परमेश्वर के पास जाना होता है, क्योंकि *वासुदेवः सर्वम् इति*—समस्त वस्तुओं का परम भोक्ता परमेश्वर ही है। समस्त यज्ञ की यही सिद्धि है।

तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः ।

स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक्प्रसुस्रुवे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तदा—उसी क्षण; दितेः—दिति के; समभवत्—उत्पन्न हुआ; सहसा—अचानक; हृदि—हृदय में; वेपथुः—कम्पन; स्मरन्त्याः—स्मरण करके; भर्तुः—अपने पति, कश्यप के; आदेशम्—वचन; स्तनात्—स्तन से; च—यथा; असृक्—रक्त; प्रसुस्रुवे—बहने लगा।

उसी क्षण, हिरण्याक्ष की माता दिति के हृदय में सहसा एक थरथराहट हुई। उसे अपने पति कश्यप के वचनों का स्मरण हो आया और उसके स्तनों से रक्त बहने लगा।

तात्पर्य : हिरण्याक्ष के अन्तिम समय पर उसकी माता दिति को अपने पति के वचनों का स्मरण हो आया कि यद्यपि उसके पुत्र असुर होंगे, किन्तु स्वयं भगवान् के हाथों से मारे जाने का वे लाभ उठाएंगे। भगवत्कृपा से उसे ये वचन स्मरण हो आये और उसके स्तनों से दूध के बजाय रक्त बह निकला। यह कई बार देखा गया है कि जब माता अपने पुत्रों के स्नेह से विचलित हो उठती है, तो उसके स्तनों से दूध बहने लगता है। यहाँ पर असुर की माता का रक्त दूध में नहीं बदल सका वरन् उसी रूप में बह निकला। रक्त ही दूध में बदलता है। दूध का पीना शुभ है, किन्तु रक्त पीना अशुभ है, यद्यपि दोनों एक ही हैं। यही बात गाय के दूध पर भी लागू होती है।

विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।

रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशोऽवस्थितं बहिः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विनष्टासु—दूर हो जाने पर; स्व-मायासु—अपनी माया शक्ति; भूयः—पुनः; च—यथा; आव्रज्य—सामने आकर; केशवम्—श्रीभगवान् को; रुषा—क्रोध से पूर्ण; उपगूहमानः—आलिगन करते; अमुम्—भगवान् को; ददृशो—देखा; अवस्थितम्—खड़े हुए; बहिः—बाहर।

जब असुर ने देखा कि उसकी मायाशक्ति विलुप्त हो गई है, तो वह एक बार फिर श्रीभगवान् केशव के सामने आया और उन्हें रौंद देने की इच्छा से तमतमाते हुए अपने बाहुओं में भर कर उनको जकड़ लेना चाहा। किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने भगवान् को अपने बाहु-पाश से बाहर खड़े देखा।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् को केशव कहा गया है क्योंकि उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में केशी असुर का वध किया था। कृष्ण का नाम केशव भी है। श्रीकृष्ण समस्त अवतारों के मूल हैं और ब्रह्म-संहिता में इसकी पुष्टि हुई है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द समस्त कारणों के कारण हैं और वे एकसाथ ही विभिन्न अवतारों तथा अंशों में विद्यमान रहने वाले हैं। असुर हमेशा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आँकने का प्रयत्न करता रहता है। यह सोचकर कि वह अपनी भौतिक शक्ति से अपनी सीमित बाहों के भीतर भगवान् को जकड़ सकेगा, उसने अपनी बाहों में उन्हें भरना चाहा। उसे यह ज्ञात न था कि भगवान् महान् से महानतम और सूक्ष्म से

सूक्ष्मतम हैं। कोई भी व्यक्ति न तो उन्हें बन्दी बना सकता है और न अपने वश में रख सकता है। किन्तु आसुरी व्यक्ति सदैव भगवान् की लम्बाई चौड़ाई मापने का प्रयास करता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से विराट रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही साथ अपने भक्तों के पूज्य विग्रह के रूप में उनके डिब्बे में बन्द हो सकते हैं। ऐसे अनेक भक्त हैं, जो भगवान् की मूर्ति को छोटे से डिब्बे में रखते हैं और जहाँ भी जाते हैं उसे अपने साथ ले जाते हैं और प्रतिदिन प्रातः काल वे डिब्बे में रखे भगवान् की पूजा करते हैं। श्रीभगवान् केशव या श्रीकृष्ण हमारी गणना की किसी माप से बँधे हुए नहीं हैं। वे अपने भक्त के साथ किसी भी उपयुक्त रूप में रह सकते हैं किन्तु आसुरी क्रिया-कलापों द्वारा उनको पा सकना कठिन है।

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।

करेण कर्णमूलेऽहन्यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तम्—हिरण्याक्ष को; मुष्टिभिः—अपने मुठ्ठी से; विनिघ्नन्तम्—प्रहार करते हुए; वज्र-सारैः—वज्र के समान कठोर; अधोक्षजः—भगवान् अधोक्षज ने; करेण—हाथ से; कर्ण-मूले—कनपटी पर; अहन्—मारा; यथा—जैसे; त्वाष्ट्रम्—वृत्रासुर (त्वष्टा का पुत्र) को; मरुत्-पतिः—मरुतों के स्वामी इन्द्र ने।

तब वह असुर भगवान् को कठोर मुठ्ठी से मारने लगा किन्तु भगवान् अधोक्षज ने उसकी कनपटी में उस तरह थप्पड़ मारा जिस प्रकार मरुतों के स्वामी इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था।

तात्पर्य : भगवान् को यहाँ अधोक्षज अर्थात् समस्त गणनाओं से परे कहा गया है। अक्षज का अर्थ है, “हमारी इन्द्रियों की माप” और अधोक्षज का अर्थ है, “जो हमारी इन्द्रियों की माप से परे है।”

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया

परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।

विशीर्णाबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्

यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आहतः—चोट खाकर; विश्व-जिता—श्रीभगवान् द्वारा; हि—यद्यपि; अवज्ञया—उपेक्षापूर्वक; परिभ्रमत्—चकराकर; गात्रः—शरीर; उदस्त—बाहर निकली; लोचनः—आँखें; विशीर्ण—छिन्न-भिन्न; बाहु—भुजाएँ; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः—रुहः—बाल; अपतत्—गिर पड़ा; यथा—जैसे; नग-इन्द्रः—विशाल वृक्ष; लुलितः—उखड़ा हुआ; नभस्वता—आँधी से।

सर्वजेता भगवान् ने यद्यपि अत्यन्त उपेक्षापूर्वक प्रहार किया था, किन्तु उससे असुर का शरीर चकराने लगा। उसकी आँखे बाहर निकल आईं। उसके हाथ तथा पैर टूट गये, सिर के बाल बिखर गये और वह अंधड़ से उखड़े हुए विशाल वृक्ष की भाँति मृत होकर गिर पड़ा।

तात्पर्य : भगवान् को किसी भी बलवान असुरों के (हिरण्याक्ष समेत) मारने में एक क्षण भी नहीं लगता। वे चाहते तो हिरण्याक्ष को बहुत पहले मार डालते, किन्तु वे उस असुर को अपना पूरा मायाजाल दिखाने के लिए छोड़े रहे। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि कोई इन्द्रजाल से, ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति से अथवा भौतिक शक्ति से भगवान् की समता नहीं कर सकता। उनके एक संकेत से हमारे सारे प्रयास निष्फल हो सकते हैं। उनकी शक्ति जो कि अनुमान के परे है जैसाकि यहाँ दिखाया गया है, इतनी प्रबल है कि समस्त आसुरी चालों के बावजूद भगवान् की इच्छा होते ही एक ही चाँटे से उस असुर की मृत्यु हो गई।

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं

करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।

अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता

अहो इमं को नु लभेत संस्थितिम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

क्षितौ—पृथ्वी पर; शयानम्—लेटे हुए; तम्—हिरण्याक्ष को; अकुण्ठ—अमलिन; वर्चसम्—तेज; कराल—भयावने; दंष्ट्रम्—दाँत; परिदष्ट—काटे हुए; दत्—छदम्—ओँठ; अज-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि ने; वीक्ष्य—देखकर; शशंसुः—प्रशंसा में कहा; आगताः—आये हुए; अहो—ओह; इमम्—यह; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; लभेत—प्राप्त कर सकता है; संस्थितिम्—मृत्यु।

उस स्थान भूमि पर लेटे भयावने दाँतों वाले तथा अपने होंठों को काटते हुए उस असुर को देखने के लिए ब्रह्मा तथा अन्य देवता आ गये। उसके मुखमण्डल का तेज अब भी अमलिन था। ब्रह्मा ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा, ओह! ऐसी भाग्यशाली मृत्यु

किसकी हो सकती है ?

तात्पर्य : यद्यपि असुर मर चुका था, किन्तु उसके शरीर का तेज कम नहीं हुआ था। यह अत्यन्त विलक्षण है, क्योंकि जब कोई मनुष्य या पशु मरता है, तो उसका शरीर तुरन्त पीला पड़ जाता है, धीरे-धीरे तेज घट जाता है और सड़न होने लगती है। किन्तु यहाँ यद्यपि हिरण्याक्ष मर चुका था, किन्तु उसके शरीर का तेज घटा नहीं था क्योंकि भगवान् ने उसके शरीर का स्पर्श किया था। शरीर का तेज तभी तक बना रहता है जब तक आत्मा उपस्थित रहता है। यद्यपि असुर के शरीर से आत्मा प्रयाण कर चुका था, किन्तु भगवान् द्वारा शरीर स्पर्श किये जाने से उसका तेज कम नहीं हुआ। व्यष्टि आत्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से भिन्न है। यदि कोई अपना शरीर छोड़ते समय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को देखता है, तो निश्चय ही वह भाग्यशाली है, अतः ब्रह्मा आदि देवों ने उस असुर की मृत्यु की प्रशंसा की।

यं योगिनो योगसमाधिना रहो

ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।

तस्यैष दैत्यऋषभः पदाहतो

मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; योगिनः—योगी जन; योग-समाधिना—योग की समाधि में; रहः—एकान्त में; ध्यायन्ति—ध्यान धरते हैं; लिङ्गात्—शरीर से; असतः—मिथ्या; मुमुक्षया—मुक्ति की इच्छा से; तस्य—उसका; एषः—यह; दैत्य—दिति का पुत्र; ऋषभः—श्रेष्ठ मणि; पदा—पाँव से; आहतः—मारा गया; मुखम्—मुँह; प्रपश्यन्—देखते या ताकते हुए; तनुम्—शरीर; उत्ससर्ज—छोड़ दिया; ह—निस्सन्देह।

ब्रह्मा ने आगे कहा—योगीजन योगसमाधि में अपने मिथ्या भौतिक शरीरों से छूटने के लिए जिसका एकान्त में ध्यान करते हैं, उन श्रीभगवान् के पादाग्र से इस पर प्रहार हुआ है। दिति के पुत्रों में शिरोमणि इसने भगवान् का मुख देखते-देखते अपने मर्त्य शरीर का त्याग किया है।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में योगविधि का स्पष्ट वर्णन हुआ है। कहा जाता है कि ध्यान करने वाले योगियों का चरम-लक्ष्य इस भौतिक शरीर से छुटकारा पाना है। फलतः वे समाधि प्राप्त करने के लिए एकान्त में ध्यान करते हैं। योग एकान्त में सम्पन्न होना चाहिए;

किसी सार्वजनिक स्थल या मंच पर नहीं जैसाकि आजकल के कई तथाकथित योगी करते हैं। वास्तविक योग का उद्देश्य भौतिक देह से छुटकारा पाना है। योगाभ्यास का उद्देश्य शरीर को चुस्त तथा तरुण बनाये रखना नहीं है। किसी भी आदर्श विधि में तथाकथित योग के ऐसे विज्ञापनों की अनुमति नहीं दी गई है। इस श्लोक में एक शब्द *यम्* अर्थात् 'उसको' आया है, जो इसका संकेत देता है कि ध्यान का लक्ष्य श्रीभगवान् होना चाहिए। यदि कोई भगवान् के वराह रूप का भी ध्यान धरता है, तो वह भी योग है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है, जो मनुष्य भगवान् के विविध रूपों में से किसी एक पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, वह उच्चकोटि का योगी है और वह भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ सरलता से समाधि को प्राप्त होता है। यदि कोई अपनी मृत्यु के समय भी भगवान् का ध्यान कर सके तो वह इस भौतिक शरीर से मुक्त होकर भगवान् के धाम को चला जाता है। भगवान् ने इस असुर को यह सुअवसर प्रदान किया, फलतः ब्रह्मा समेत सभी देवाताओं को आश्चर्य हुआ। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि भगवान् के केवल पाद-प्रहार से असुर को भी योगसिद्धि प्राप्त हो सकती है।

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।

पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; तौ—दोनों; पार्षदौ—पार्षद; अस्य—भगवान् के; शापात्—शाप के कारण; यातौ—गये हैं; असद्गतिम्—आसुरी परिवार में जन्म लेना; पुनः—फिर; कतिपयैः—कुछ; स्थानम्—अपना स्थान; प्रपत्स्येते—पुनः प्राप्त करेंगे; ह—निस्सन्देह; जन्मभिः—जन्मों के पश्चात्।

भगवान् के इन दोनों पार्षदों को शापवश असुर-परिवारों में जन्म लेना पड़ा। ऐसे कुछ जन्मों के पश्चात् ये अपने-अपने स्थानों में लौट जायेंगे।

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्त्रवे

स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।

दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-

स्वत्यादभक्त्या वयमीश निर्वृताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अखिल-यज्ञ-तन्त्रे—समस्त यज्ञों के भोक्ता; स्थितौ—स्थिति को बनाए रखने के निमित्त; गृहीत—धारण किया; अमल—शुद्ध; सत्त्व—अच्छाई; मूर्तये—रूप; दिष्ट्या—सौभाग्यवश; हतः—मारा गया; अयम्—यह; जगताम्—लोकों को; अरुन्तुदः—कष्ट देने वाला; त्वत्-पाद—आपके चरण की; भक्त्या—भक्ति से; वयम्—हमने; ईश—हे भगवान्; निर्वृताः—सुख प्राप्त किया है।

देवताओं ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हम आपको नमस्कार करते हैं। आप समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं और आपने शुद्ध सात्त्विक भाव में विश्व की स्थिति बनाये रखने के लिए वराह रूप धारण किया है। यह हमारा सौभाग्य है कि समस्त लोकों को कष्ट देने वाला असुर आपके हाथों मारा गया और हे भगवान्, अब हम आपके चरण-कमलों की भक्ति करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

तात्पर्य : यह संसार तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तमोगुण—वाला है, किन्तु आध्यात्मिक जगत तो शुद्ध सत्त्व है। यहाँ यह बताया गया है कि भगवान् का रूप शुद्ध सत्त्व है, जिसका अर्थ है कि वह भौतिक नहीं है। इस भौतिक जगत में कहीं भी शुद्ध सत्त्व नहीं है। *भागवत* में शुद्ध सत्त्व अवस्था को *सत्त्वं विशुद्धम्* कहा गया है। विशुद्धम् का अर्थ है शुद्ध। शुद्ध सत्त्व में अन्य दो निम्न गुणों अर्थात् रजो तथा तमो गुणों के कारण कोई कल्मष नहीं होता है। अतः वराह रूप, जिसमें भगवान् प्रकट हुए थे, इस भौतिक जगत का न था। भगवान् के और भी कई रूप हैं, किन्तु इनमें से एक का भी सांसारिक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ये रूप विष्णुरूप से अभिन्न हैं और विष्णु समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

वेदों में जिन यज्ञों की अनुशंसा की गई है वे सभी श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए हैं। तमोगुणी होने पर ही मनुष्य अन्य बिचौलियों (दूतों) को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जीवन का वास्तविक ध्येय परम पुरुष, भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। यही नहीं, सभी यज्ञों का उद्देश्य भी भगवान् को प्रसन्न करना है। जो जीवात्मा इसे भलीभाँति समझते हैं, वे देवता, दैवी या देव-तुल्य माने जाते हैं। चूँकि प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर का ही अंश है, अतः यह उसका धर्म है कि भगवान् की सेवा करे और उन्हें प्रसन्न रखे। सभी देवता श्रीभगवान्

के प्रति आसक्त होते हैं। उन्हीं की प्रसन्नता के लिए विश्व भर को कष्ट प्रदान करने वाले असुर का भगवान् ने वध किया। पवित्र जीवन की सार्थकता भगवान् को प्रसन्न करने में है और पवित्र जीवन में जितने भी यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, वे कृष्णभावनामृत कहलाते हैं। यह कृष्णभावनामृत भक्तियोग के द्वारा विकसित किया जाता है, जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

मैत्रेय उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं

स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।

जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं

समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष को; असह्य-विक्रमम्—अत्यन्त शक्तिमान; सः—भगवान् ने; सादयित्वा—मारकर; हरिः—श्रीभगवान् ने; आदि-सूकरः—सूकर योनियों का मूल; जगाम—वापस गया; लोकम्—अपने धाम; स्वम्—निजी; अखण्डित—अनवरत्; उत्सवम्—उत्सव; समीडितः—प्रशंसित; पुष्कर-विष्टर—कमल-आसन (कमलासन); आदिभिः—तथा अन्य।

श्री मैत्रेय ने आगे कहा—इस प्रकार अत्यन्त भयानक असुर हिरण्याक्ष को मारकर आदि वराह-रूप भगवान् हरि अपने धाम वापस चले गये जहाँ निरन्तर उत्सव होता रहता है। ब्रह्मा आदि समस्त देवताओं ने भगवान् की प्रशंसा की।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को आदि शूकर कहा गया है। जैसाकि वेदान्त सूत्र (१.१.२) में कहा गया है परम सत्य प्रत्येक वस्तु का मूल है। अतः यह माना जाता है कि समस्त चौरासी लाख योनियाँ भगवान् से उद्भूत हैं, वे ही आदि अथवा प्रारम्भ हैं। भगवद्गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आद्यम् अर्थात् आदिकालीन (मूल) कहकर सम्बोधित किया है। इसी प्रकार ब्रह्म-संहिता में भगवान् को आदि-पुरुष कहा गया है। वस्तुतः भगवद्गीता (१०.८) में भगवान् स्वयं कहते हैं—*मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—मुझी से प्रत्येक वस्तु आगे बढ़ती है।

प्रस्तुत स्थिति में हिरण्याक्ष का वध करने तथा पृथ्वी को गर्भ सागर से उठाने के लिए भगवान् ने वराह रूप धारण किया। वे आदि शूकर बने। इस भौतिक संसार में शूकर अत्यन्त गर्हित माना जाता है, किन्तु आदि शूकर अर्थात् श्रीभगवान् को समान्य शूकर नहीं समझा गया।

यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा अन्य देवों तक ने भगवान् के शूकर रूप की प्रशंसा की।

इस श्लोक से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि दुष्टों का वध करने और भक्तों की रक्षा के लिए भगवान् अपने दिव्य धाम से अवतरित होते हैं। हिरण्याक्ष को मारकर उन्होंने असुरों को मारने और ब्रह्मा इत्यादि दूसरे देवताओं की रक्षा करने का अपना वचन पूरा किया। यह कथन कि भगवान् अपने धाम को वापस चले गये सूचित करता है कि भगवान् का अपना विशेष दिव्य आवास है। चूँकि वे समस्त शक्तियों से पूर्ण हैं, अतः वे गोलोक वृन्दावन में रहते हुए भी सर्वत्र व्याप्त हैं, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य ब्रह्माण्ड के भीतर विशिष्ट स्थान में स्थित होकर समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

यद्यपि भगवान् का रहने का विशिष्ट आवास है, तथापि वे सर्वव्यापी हैं। निर्विशेषवादी भगवान् के इस सर्वव्यापी रूप को मानते हैं, किन्तु वे दिव्य आवास में स्थित उनके पद को नहीं समझ पाते, जहाँ वे निरन्तर दिव्य लीलाओं में संलग्न रहते हैं। इस श्लोक में आगत *अखण्डितोत्सवम्* शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। उत्सव का अर्थ है 'आनन्द'। जब भी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए कोई कार्य किया जाता है, तो वह उत्सव कहलाता है। उत्सव पूर्ण प्रसन्नता का सूचक है और यह भगवान् के धाम वैकुण्ठलोक में सदैव विद्यमान रहता है। भगवान् जब ब्रह्मा जैसे देवताओं द्वारा पूजित हैं, तो मनुष्यों जैसी नगण्य आत्माओं का क्या कहना है।

भगवान् अपने धाम से इस धरा पर उतरते हैं इसीलिए उन्हें अवतार कहा जाता है। कभी-कभी अवतार से भौतिक रूप या जीता जागता हाड़-मांस युक्त रूप समझा जाता है, किन्तु वास्तव में अवतार वह व्यक्ति है, जो उच्चतर प्रक्षेत्रों से नीचे उतरता है। भगवान् का धाम भौतिक आकाश से ऊपर बहुत ऊँचाई पर है और वे उस उच्च पद से नीचे उतरते हैं; इसीलिए अवतार कहलाते हैं।

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः

कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम् ।

यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो

महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; यथा—जिस रूप में; अनूक्तम्—कहा गया; अवादि—व्याख्या की गई; ते—तुमको; हरेः—श्रीभगवान् का; कृत-अवतारस्य—जिसने अवतार लिया; सुमित्र—हे विदुर; चेष्टितम्—कार्यकलाप; यथा—जिस प्रकार; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; उदार—अत्यन्त विस्तृत; विक्रमः—शौर्य; महा-मृधे—महान् युद्ध में; क्रीडन-वत्—खिलौन की तरह; निराकृतः—मारा गया।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे विदुर, मैंने तुम्हें कह सुनाया कि भगवान् किस प्रकार प्रथम शूकर के रूप में अवतरित हुए और अद्वितीय शौर्य वाले असुर को महान् युद्ध में मार डाला मानो वह कोई खिलौना रहा हो। मैंने अपने पूर्ववर्ती गुरु से इसे जिस रूप में सुना था, वह तुम्हें सुना दिया।

तात्पर्य : यहाँ मैत्रेय मुनि स्वीकार करते हैं कि उन्होंने भगवान् द्वारा हिरण्याक्ष वध को ज्यों का त्यों आख्यान के रूप में कह सुनाया है; उन्होंने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं जोड़ा, वरन् जिस रूप में अपने गुरु से सुना था उसी को कह सुनाया। इस प्रकार उन्होंने परम्परा प्रणाली को प्रामाणिक माना है। जब तक इस प्रकार गुरु से प्रामाणिक विधि से सुना न जाय, किसी आचार्य का कथन वैध नहीं हो सकता।

यहां यह भी कहा गया है कि यद्यपि असुर हिरण्याक्ष का शौर्य असीम था, किन्तु भगवान् के लिए वह खिलौना मात्र था। बालक बिना किसी प्रयास के अनेक खिलौने तोड़ देता है उसी प्रकार संसारी मनुष्यों की दृष्टि में भले ही कोई असुर कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, भगवान् को ऐसे असुर के मारने में कोई कठिनाई नहीं होती। वे लाखों असुरों का वैसे ही वध कर सकते हैं जिस प्रकार बालक अनेक खिलौनों से खेलकर उन्हें तोड़ डालता है।

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्तानन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; कौषारव—मैत्रेय (कुषारु के पुत्र) से; आख्याताम्—कहा गया; आश्रुत्य—सुनकर; भगवत्-कथाम्—भगवान् विषयक आख्यान; क्षत्ता—विदुर ने; आनन्दम्—आनन्द; परम्—दिव्य; लेभे—प्राप्त किया; महा-भागवतः—परम भक्त; द्विज—हे ब्राह्मण (शौनक)।

श्री सूत गोस्वामी ने आगे कहा—हे शौनक, मेरे प्रिय ब्राह्मण, भगवान् के परम

भक्त, क्षत्ता (विदुर) को कौषारव (मैत्रेय) मुनि के आधिकारिक स्रोत से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुनकर दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

तात्पर्य : यदि कोई भगवान् की लीलाओं को सुनकर दिव्य आनन्द उठाना चाहता है, तो उसे आधिकारिक स्रोत से सुनना चाहिए जैसाकि यहाँ कहा गया है। मैत्रेय ने इस आख्यान को अपने प्रामाणिक गुरु से सुना था और विदुर ने भी मैत्रेय से। जो कुछ अपने गुरु से सुना हो उसको उसी रूप में कहने से मनुष्य अधिकारी व्यक्ति बन जाता है और जो प्रामाणिक गुरु नहीं स्वीकार करता वह अधिकारी नहीं हो सकता—इसकी यहाँ स्पष्ट व्याख्या की गई है। यदि कोई दिव्य आनन्द चाहता है, तो उसे अधिकारी व्यक्ति की खोज करनी होगी। दिव्य आनन्द चाहने वाले को अधिकारी व्यक्ति की खोज करनी होगी। *भागवत* में यह भी कहा गया है कि केवल अधिकारी से मन एवं कानों से सुनकर भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन किया जा सकता है अन्यथा यह सम्भव नहीं है। इसीलिए सनातन गोस्वामी ने विशेष रूप से आगाह किया है कि किसी अभक्त के मुख से भगवान् के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी न सुना जाय। अभक्त गण सर्प की तरह हैं। यद्यपि भगवान् की लीलाओं की कथा दूध के समान शुद्ध है किन्तु जिस प्रकार सर्प के स्पर्श से दुग्ध विषाक्त हो जाता है उसी तरह सर्पतुल्य अभक्तों से भगवत्कथा। इससे दिव्य आनन्द तो मिलेगा ही नहीं, साथ ही यह घातक भी होगी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी आगाह किया है कि मायावादी विचारधारा वालों से भगवान् की लीलाएँ नहीं सुनी जायँ। उन्होंने स्पष्ट कहा है—*मायावादी-भाष्य शुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई भगवान् की लीलाओं का विश्लेषण या भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम् अथवा अन्य किसी वैदिक साहित्य की व्याख्या किसी मायावादी के मुख से सुनता है, तो समझिये सर्वनाश हुआ। एक बार निर्गुणवादियों की संगति की नहीं कि भगवान् के सगुण रूप तथा उनकी दिव्य लीलाओं को समझ पाना दुष्कर हो जाता है।

सूत गोस्वामी शौनक आदि ऋषियों को संबोधित कर रहे थे, अतः उन्होंने इस श्लोक में

उन्हें द्विज अर्थात् द्वि-जन्मा कहकर सम्बोधित किया। नैमिषारण्य में एकत्र होकर सूत गोस्वामी से श्रीमद्भागवत सुन रहे समस्त ऋषि चूँकि ब्राह्मण ही थे, किन्तु ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त कर लेना ही सब कुछ नहीं होता। मात्र द्विज होना सिद्धि नहीं है। सिद्धि तो तभी मिलती है जब कोई प्रामाणिक स्रोत से भगवान् की लीलाओं को सुने।

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।

उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्गस्य किं पुनः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

अन्येषाम्—दूसरों का; पुण्य-श्लोकानाम्—पवित्र यश का; उद्दाम-यशसाम्—जिनकी ख्याति सर्वत्र फैली है; सताम्—भक्तों का; उपश्रुत्य—सुन करके; भवेत्—उठ सकते हैं; मोदः—आनन्द; श्रीवत्स-अङ्गस्य—श्रीवत्स चिह्न धारण करने वाले भगवान् का; किम् पुनः—फिर क्या कहना।

मनुष्य चाहें तो अमर यश वाले भक्तों के कार्यकलापों को सुनकर आनन्द उठा सकते हैं, फिर श्रीवत्सधारी श्रीभगवान् की लीलाओं के श्रवण का कहना ही क्या!

तात्पर्य : भागवतम् का शाब्दिक अर्थ है भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाएँ— उदाहरणार्थ, भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाएँ तथा प्रह्लाद, ध्रुव तथा महाराज अम्बरीश जैसे भक्तों के आख्यान। ये दोनों प्रकार की लीलाएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सम्बद्ध हैं, क्योंकि भक्तों की लीलाएँ उन्हीं से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, महाभारत में पाण्डवों का इतिहास एवं उनके कार्य-कलाप हैं, अतः वह पवित्र है, क्योंकि पाण्डवों का श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध था।

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।

क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद्दरुतम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; गज-इन्द्रम्—हाथियों के राजा को; झष—मकर, घड़ियाल द्वारा; ग्रस्तम्—आक्रमण किया गया; ध्यायन्तम्—ध्यान करते हुए; चरण—पाँव; अम्बुजम्—कमल; क्रोशन्तीनाम्—विलाप करती हुई; करेणूनाम्—हथिनियों को; कृच्छ्रतः—संकट से; अमोचयत्—उबारा; द्रुतम्—शीघ्र।

वह गजराज जिस पर मगरमच्छ ने आक्रमण कर दिया था और जिसने तब भगवान् के चरणकमलों का ध्यान किया, उसे भगवान् ने तुरंत उबार किया। उस समय उसके साथ की हथिनियाँ चिंघाड़ रही थीं, किन्तु भगवान् ने आसन्न संकट से उनको बचा

लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर संकटग्रस्त हाथी, जिसकी रक्षा भगवान् ने की थी, उस का उदाहरण यहाँ विशेष रूप से दिया गया है, क्योंकि पशु भी भक्ति में भगवान् के पास याचना कर सकता है, जबकि देवता भी यदि भक्त नहीं है, तो उनके पास नहीं पहुँच सकता।

तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।

कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सुख—सरलतापूर्वक; आराध्यम्—पूजनीय; ऋजुभिः—सरल लोगों द्वारा; अनन्य—अन्य कोई नहीं; शरणैः—शरणागत; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; कृत-ज्ञः—उपकार मानने वाला; कः—क्या; न—नहीं; सेवेत—सेवा करनी चाहिए; दुराराध्यम्—पूजा कर पाना दुष्कर; असाधुभिः—अभक्तों द्वारा।

ऐसा कौन कृतज्ञ जीव होगा जो श्रीभगवान् जैसे परम स्वामी की प्रेमाभक्ति नहीं करना चाहेगा? वे विमल भक्तों पर, जो उन्हीं पर अपनी रक्षा के लिए आश्रित रहते हैं, सरलता से प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु किसी अनुचित व्यक्ति को उन्हें प्रसन्न कर पाने में कठिनाई होती है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीवात्मा को और विशेष रूप से मनुष्यों को परमेश्वर की कृपा से प्राप्त होने वाले वरदानों के लिए उनका कृतज्ञ होना चाहिए। अतः कृतज्ञ एवं सरल हृदय वाले को कृष्णभक्त होना चाहिए और कृष्णभक्ति करनी चाहिए। जो लोग वास्तविक चोर तथा उचक्रे हैं, वे भगवान् द्वारा प्रदत्त वरदानों को न तो पहचानते हैं, न उसके लिए आभार प्रकट करते हैं, ईश्वर की भक्ति करना तो दूर की बात है। जो भगवान् की व्यवस्था से मिलने वाले लाभों को नहीं समझते वे कृतघ्न हैं। वे धूप तथा चाँदनी का आनन्द उठाते हैं और निःशुल्क जल प्राप्त करते हैं, किन्तु कृतज्ञता का अनुभव नहीं करते, तो भी वे भगवान् के इन उपहारों को भोगते रहते हैं। इसीलिए उन्हें चोर और उचक्रे कहा ही जाना चाहिए।

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं

विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।

शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा

विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; हिरण्याक्ष-वधम्—हिरण्याक्ष के वध का; महा-अद्भुतम्—अत्यन्त विस्मयजनक; विक्रीडितम्—लीला; कारण—समुद्र से पृथ्वी के उद्धार जैसे कारणों के लिए; सूकर—सूकर रूप में प्रकट होकर; आत्मनः—श्रीभगवान् का; शृणोति—सुनता है; गायति—जप करता है; अनुमोदते—आनन्द लेता है; अञ्जसा—तुरन्त; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है; ब्रह्म-वधात्—ब्रह्महत्या के पाप से; अपि—भी; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

हे ब्राह्मणो, जगत के उद्धार हेतु आदि सूकर रूप में प्रकट होने वाले भगवान् द्वारा हिरण्याक्ष वध के इस अद्भुत आख्यान को जो कोई सुनता है, गाता है या इसमें रस लेता है, वह ब्रह्महत्या जैसे पापमय कर्मों के फल से भी तुरन्त मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि श्रीभगवान् परम पद पर आसीन हैं, अतः उनकी लीलाओं तथा उनके व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं है। अतः जो भी भगवान् की लीलाओं से अपना नाता जोड़ता है, वह भगवान् से प्रत्यक्ष जुड़ता है और जो इस प्रकार जुड़ जाता है, वह समस्त पापमय कर्मों से, यहाँ तक कि ब्रह्महत्या जैसे पाप से भी मुक्त हो जाता है, यद्यपि इसे संसार की सबसे अधिक पापमय कृत्य माना जाता है। मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्त जैसे अधिकृत स्रोत से भगवान् के कार्यकलापों को सुनने के लिए उत्सुक रहे। यदि कोई भगवान् के आख्यान का श्रवण मात्र करता है और भगवान् के गुणों को स्वीकार करता है, तो वह योग्य बन जाता है। मायावादी कभी भी भगवान् के कृत्यों को नहीं समझ सकते। वे उनके समस्त कार्यों को माया मानते हैं, इसीलिए तो वे मायावादी कहलाते हैं। चूँकि उनके लिए हर वस्तु माया है, अतः ऐसे आख्यान उनके लिए नहीं हैं। कुछ निर्विशेषवादी श्रीमद्भागवत को सुनना नहीं चाहते, यद्यपि उनमें से अनेक आर्थिक लाभ के लिए उसमें अब रुचि दिखाने लगे हैं। किन्तु वास्तविक रूप में वे श्रद्धा नहीं रखते। उल्टे, वे अपने ही ढंग से इसका वर्णन करते हैं। अतः हमें मायावादियों से इसको नहीं सुनना चाहिए। हमें तो सूत गोस्वामी या मैत्रेय से सुनना चाहिए जो आख्यानो को यावत् रूप में प्रस्तुत करने वाले हैं। तभी हम भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन कर सकेंगे अन्यथा नवदीक्षित श्रोताओं पर विषतुल्य प्रभाव पड़ेगा।

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं

धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
 प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
 नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह आख्यान; महा-पुण्यम्—पुण्यप्रद; अलम्—अत्यन्त; पवित्रम्—पवित्र; धन्यम्—धन देनेवाला;
 यशस्यम्—यश की प्राप्ति करने वाला; पदम्—पात्र, भाजन; आयुः—दीर्घजीविता का; आशिषाम्—कामनाओं का;
 प्राण—जीवनदाता अंगों का; इन्द्रियाणाम्—कर्मेन्द्रियों का; युधि—युद्धभूमि में; शौर्य—पराक्रम; वर्धनम्—बढ़ाने
 वाला; नारायणः—भगवान् नारायण; अन्ते—जीवन के अन्त में; गतिः—शरण; अङ्ग—हे शौनक; शृण्वताम्—
 श्रोताओं का।

यह परम पवित्र आख्यान (चरित्र) अद्वितीय यश, सम्पत्ति, ख्याति, आयुष्य तथा मनवांछित फल देने वाला है। युद्ध भूमि में यह मनुष्य के प्राणों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्ति वर्धित करने वाला है। हे शौनक, जो अपने अन्तकाल में इसे सुनता है, वह भगवान् के परम धाम को जाता है।

तात्पर्य : भक्त सामान्य रूप से भगवान् की लीलाओं के आख्यानों से आकृष्ट होते रहते हैं और तपस्या या ध्यान न करने पर भी इन लीलाओं के श्रवण मात्र से अनेक लाभ यथा सम्पत्ति, ख्याति, आयुष्य तथा जीवन की अन्य मनोकामनाएँ प्राप्त करते रहते हैं। यदि कोई अपने जीवन के अन्तकाल में भगवान् की लीलाओं के आख्यानों से परिपूर्ण श्रीमद्भागवत का श्रवण करता रहता है, तो वह निश्चित रूप से भगवान् के शाश्वतधाम को जाता है। इस प्रकार श्रोताओं को जब तक वे इस भौतिक लोक में रहते हैं तब भी और अन्त-समय में भी लाभ प्राप्त होता है। भक्ति करने का यही परम शुद्ध लाभ है। भक्ति का शुभारम्भ इसीसे होता है कि समय निकाल कर सही व्यक्ति से श्रीमद्भागवत का श्रवण किया जाय। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी भक्ति की पाँच बातों की संस्तुति करते हैं। ये हैं भगवद्भक्तों की सेवा, हरे कृष्ण मन्त्र का जप, श्रीमद्भागवत का श्रवण, भगवान् के श्रीविग्रह की अर्चना तथा तीर्थस्थान में वास। इन पाँचों कृत्यों के करने मात्र से मनुष्य भौतिक जीवन की कष्टमय अवस्था से उबर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत “असुर हिरण्याक्ष का वध” नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।